Belpatra Hindi Story by Geetanjali Shee

सब्जी बाज़ार में फ़ातिमा का पैर 'छप' से किसी गिलगिली चीज़ पर पड़ गया।
"ओफ्..." घिन के साथ उसने पैर को अलग झटका।
“कुछ नहीं है, रीलैक्स," ओम ने झुककर देखा और दिलासा दिया, “गोबर है बस।"
पता नहीं क्यों फ़ातिमा के अन्दर ऐसा तेज़ गुस्सा फूटा, "देखो, होगा गोबर तुम्हारे लिए पाक। मेरे लिए वह उतना ही घिनौना है जितनी घोड़े की लीद।"
ओम के भीतर तक कुछ हिल गया, “फ़ातिमा पागल हो जाओगी। इस तरह करोगी तो हर इशारे का दो में से एक ही मतलब होगा, हिन्दू या मुसलमान।"
“अब भी सँभल जाओ," ओम कराह उठा, “तुम जिस कीच में फँस रही हो वह अभी नरम है, अभी उसमें से निकल सकती हो। पर फ़ातिमा, समझोगी नहीं तो फँसती जाओगी, और फिर वह पदार्थ ठोस हो जाएगा...तुम उसमें अटक जाओगी, हिल नहीं पाओगी, अकड़ी रह जाओगी..."
दोनों स्कूटर पर सवार घर लौट आए।
अन्दर शन्नो चाची आई थीं, “यह लो बेटा, शिरडी गई थी, साईं बाबा का परशाद है। बहू, यह धागा बँधवा लो।"
फ़ातिमा ने चुपचाप धागा बँधवा लिया।
उसकी आँखों में अनोखी चमक थी।
उसी शाम उसने अपना सूटकेस खोला। अम्मी ने गुलाबी और हरे गोटेदार साटिन में कुशन और जा-नमाज़ लपेट दी थीं। फ़ातिमा ने खिड़की के नीचे, कमरे के एक तरफ़ वह चीजें लगा दी। नमाज़ पढ़ी और आसन एक कोने से ज़रा-सा मोड़ दिया।

रात को ओम ने अपना हाथ धीरे-से फ़ातिमा के कन्धे पर रखा। फ़ातिमा ने मुँह फेर लिया। ओम ने और नज़दीक खिसककर कहा, “फ़ातिमा, यह क्या कर रही हो?"
फ़ातिमा घायल जीव की तरह छिटककर अलग हो गई, "मैं कुछ नहीं कर रही हूँ। उल्टा चोर कोतवाल को..." वह चीखते-से स्वर में बोली।
अजीब-सी हो रही थी फ़ातिमा, मानो एक बारीक़-सी पर्त के नीचे बस 'हिस्टीरिया' ही 'हिस्टीरिया' दबा पड़ा हो। जब तक चुप्पी ठीक है, पर ज़रा-सी आवाज़ हुई कि पर्त चटकी और चीत्कार बाहर फूटा।
ओम ने उसका हाथ हलके से दबाया, “प्यारी, मैं क्या कर रहा हूँ ? तुम तो हर बात का मतलब निकालने लगी हो। इतनी जल्दी बुरा मान जाती हो। पहले हम हर तरह की बात पर हँस लेते थे।"
फ़ातिमा के आँसू छलक पड़े, “पहले की बात मत करो। पहले हम कुछ और ही थे।" उसने सिसकी के साथ अपना मुँह तकिए में दबा दिया।
ओम ने उसे कस के चिपटा लिया।
“छोड़ दो मुझे, छोड़ दो !" वह रोती हुई उसकी बाँहों से निकलने को तड़पने लगी।
"नहीं," ओम ने बाँहें और कसते हुए कहा, "नहीं फ़ातिमा, कैसे छोड़ सकता हूँ तुम्हें। प्लीज़...! तुम समझ ही नहीं रही..."

समझ तो वह भी नहीं रहा था। उसकी मति मारी गई थी। मुँह फाड़े कोई लहर आई थी और उसे मध्य सागर में, अनजान अँधेरों में गोते खाने पटक गई थी। यह सब क्यों हो रहा है ? यह सब क्या हो रहा है ? उसे कुछ भी समझ नहीं आ रहा था। _ सिसकती फ़ातिमा को सीने से लगाए वह मद्धिम चाँदनी में चुपचाप पड़ा रहा। पलंग के बगल में खड़े 'कैबिनेट' पर चाँद इशारा कर रहा था। फ़ातिमा ङ्केकी कॉलेज की तस्वीर धुधली-सी शालार रही थी । दुबली-सी लाड़ी, जींस पर कुर्ता लटकाए, कुर्ते पर एक लम्बी चोटी झुलाती, हँसमुख चेहरेवाली, चपल नयनोंवाली। तब फ़ातिमा कितनी शोख हुआ करती थी। और निडर । और बागी।

होस्टल लाउंज में ही अपने अब्बा से लड़ पड़ी थी-'समाज...मज़हब...धमकाइए मत मुझे...सारी दुनिया घटिया नियम अख्तियार करे तो भी वे सही नहीं हो जाएँगे।' दोनों ने मिलकर सबका सामना किया था। जान की धमकी देनेवाले अनाम ख़तों को हिकारत से फाड़कर फेंक दिया था। ओम की नौकरी चली गई। उस पर आरोप लगे कि वह घमंडी है और ऑफ़िस का माल निजी इस्तेमाल में लाता है। मित्रों के संग दोनों हँसे थे, क्योंकि वाकई ओम ऑफिस का कागज़, जब-तब अपने लेख टाइप करने के लिए उठा लाता था। एक के बाद एक बवाल हुआ। शहर-भर में हंगामा फैला। फ़ातिमा को तो उसके अब्बा ने ताले-चाभी में बन्द कर दिया। पर वह खिड़की से कूदकर भाग आई थी और दोनों ने शादी कर डाली थी।

ओम ने गहरी साँस ली। ऐसा लगा था कि एक डरावने दौर का अन्त हुआ था, एक खतरनाक कहानी खत्म हुई थी। पर न जाने कैसे उस कहानी का अन्त एक नई शुरुआत बन गया।
सवेरे आँख खुली तो फ़ातिमा नमाज़ पढ़ रही थी।
“ये क्या ?" ओम के तन-बदन में आग लग गई। उसने झपटकर जा-नमाज़ खींच ली और फ़ातिमा को घसीटकर खड़ा कर दिया, “ये क्या कर रही हो ?" वह दाँत पीसकर बोला, “अब यही कसर बाकी है ?"
“छोड़ दो मुझे !" फ़ातिमा की आवाज़ काँप रही थी। उसकी आँखों का दृढ़ संकल्प देखकर ओम थर्रा उठा। फ़ातिमा झटके से वापस जा बैठी।
नाश्ते पर दोनों चुप थे। ओम अपने चेहरे के आगे से अखबार हटाता तो केवल एक और कौर मुँह में डालने के लिए। जब फ़ातिमा खाली प्लेटें उठाने लगी तब उससे नहीं रहा गया।
"रुको।"
फ़ातिमा ठिठक गई, सिर बिना उसकी तरफ़ घुमाए।
"जाओ," ओम गुर्राकर बोला, “जब सुनने से पहले ही तय कर चुकी हो कि सुनोगी नहीं तो क्या फायदा ?"

फ़ातिमा सट्-सट् साड़ी फड़फड़ाती रसोई में घुस गई। वह वाकई कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थी। सारा दर्द, सारी कुंठा, उसने अब इसी एक बिन्दु पर न्योछावर करने की कसम खा ली थी-अपनी एक पहचान पर, क्योंकि उसे लग गया था कि कोई उसे पहचानता नहीं है, मानता नहीं है। या तो बस बर्दाश्त करता है या फिर ज़लील करता है। उसे अपनी अस्मिता की खोज हो आई। ठीक है, वह भी दिखा देगी वह क्या है।

ओम का हाथ फिर उसके कन्धे पर था। "फ़ातिमा !" उसकी आवाज़ रुंधी-रुंधी थी।
फ़ातिमा तड़प उठी। ओम की कोमलता वह सह नहीं सकती। इसी तरह वह हिलगा देता है। वह उम्मीद और विश्वास में बैठ जाती है कि उसे मंजूर किया जा रहा है। नहीं चाहिए यह नरमी। चीख लो। मार लो। पर...।

"फ़ातिमा, कुछ तो सोचो। तुम समझती क्यों नहीं हो कि क्या कर रही हो ? सारा जग इठलाएगा कि उन्हें तो हमेशा पता था तेल और पानी का मेल कब हो पाया है।...तुम सँभलती क्यों नहीं...? हमने एक-दूसरे से प्यार किया है। धर्म से परे।...तुमने क्यों ठान लिया है कि दुनिया के रचे झूठे भँवर में हम फँस जाएँ ?...तुली हुई हो हमें हिन्दू-मुसलमान दिखाने में।...फ़ातिमा, तुम जहर को मरहम समझ रही हो। प्लीज फ़ातिमा, प्लीज...। जिसमें से लड़कर निकल आए थे उस गढ़े में गिर जाना चाहती हो ?...हम तो बेइंसाफी से लड़नेवालों के लिए एक ताकत बन गए थे, 'सिंबल', 'सिंबल' ऑफ विक्टरी..."

फ़ातिमा तिलमिला उठी, "हाँ-हाँ 'सिंबल' हैं। बस 'सिंबल' बनके रह गए हैं। मुर्दा 'सिंबल'। और कुछ नहीं रहे। जैसे तिरंगे झंडे पर बना चक्र।...ओम, मैं इनसान हूँ, फरिश्ता नहीं। सुना ? समझे ?...सुन लो ओम, मुझे मेरी दुनिया चाहिए, इनसानोंवाली।...डू यू अंडरस्टैंड...। जिसमें तरह-तरह के रिश्ते हैं, दूर के, करीब के। मुझे चार जिगरी दोस्तों के सहारे नहीं जीना है। ओम...ओम, तुम बेवकूफ हो...ज़िन्दगी एक ज़रा-से 'इंटीमेट' घेरे में नहीं जी जाती। हर पल की यह 'इंटीमेसी'...सब इतने नज़दीक...सब एक-दूसरे के बारे में सब कुछ जानते हुए...। ओम, मेरा दम घुटता है। साँस लेने के लिए थोड़ा दूर होना पड़ता है। मुझे यह चाहिए...यह सब चाहिए...।"

ओम उत्तेजित होकर बोला, 'सब' किसे कह रही हो ? इस तरह क्या तुम 'सब' पा जाओगी ? फ़ातिमा, तुम अपने आपको भी खो दोगी। जिसे 'सब' समझ रही हो वे हैं बेजान सिंबल्स।...तुम डर गई हो...।
फ़ातिमा झटके से वहाँ से चली गई।
वह सच ही बहुत डरने लगी थी। बेकार में ही घबराहट की लहर उसके बदन में सिहर उठती। रातों को नींद खुलती तो वही जानी-पहचानी आवाजें-नल से गिरती टप-टप बूँदें, हवा से धीमे-धीमे खड़खड़ाती खिड़की, दूर सड़क पर जाती ट्रक की आवाज़-वह अँधेरे में ही डरकर झाँकने लगती...कौन है, क्या है...?

कभी ख्वाब देखती-अम्मी के कमरे में दाखिल हुई। अम्मी चुपचाप काम कर रही हैं। कहीं जानेवाली हैं। चेहरे पर भाव शान्त संयमित है; और फ़ातिमा उनसे कहने को तड़प रही है, उनकी सुनने को बिलख रही है। पर अम्मी बात ही नहीं करतीं, पथराई-सी हैं। उनका क्या होगा ? फ़ातिमा डरने लगती, अजीब-सी घुटन उसे डसने लगती, वह टूटती जाती। टूट रही है, चीख रही है। चेहरे की हर बनावट उस चीख में बिगड़ रही है।

अचानक वह जाग जाती। उस चीखते, विकृत चेहरे पर पड़ा यह शान्त, स्थिर, सिलवटरहित सोकर जागा चेहरा...। वह और भी अधिक डर जाती।

फ़ातिमा कुर्सी पर बैठ गई। पस्त। उसकी हिम्मत चूर हो गई थी। अपने किए के नतीजे को नहीं जानना चाहती थी। आदर्श लड़ाई अब बहुत हुई। उसे लग रहा था उसमें सिर उठाने की ताकत नहीं रही। हर पौधे को पनपने के लिए मिट्टी चाहिए, हवा-पानी चाहिए। वह मुरझाने लगी थी। ओम कहता था, उसे कोई हक नहीं कि हर झोंके पे ज़रा और झुक जाए, इतनी कमज़ोर साबित हो। समाज से लोहा लिया है तो बंजर ज़मीन पर उगना पड़ेगा। नहीं तो पहले ही किसी बेल की तरह कहीं पेड़ या दीवार से क्यों नहीं चिपट गई?

बहुत हो गईं ये कोरी बातें। फ़ातिमा का सिर भन्ना उठा। उसे लगा किसी और ज़िन्दगी में वह अपनी इस कमज़ोरी को कोस लेगी। अभी तो बस वह अपनी एक जगह चाहती है, अपनी पहचान माँगती है, अपनों को पाने के लिए तड़प रही है।

किसी ने घंटी बजाई। फ़ातिमा ने नज़र उठाई। शन्नो चाची थीं।
सोमवार था। चाची हर सोमवार आ जाती थीं। अम्मा के नाम पूजा कर जाती थीं।
दो बरस अम्मा मुँह फुला के बैठ गई थीं। पर बेटे से कौन माँ अलग हो पाती है। देखते ही देखते सारी अकड़ चम्पत हो गई और बेटे के घर आना-जाना शुरू हो गया। तभी शन्नो चाची भी आने लगीं।
अम्मा तो फ़ातिमा को जी-जान से प्यार भी करने लगीं।

कभी शन्नो चाची ने आँखें मटकाकर कहा था, "क्यों री, तेरी बहू की आवाज़ तो बड़ी सुरीली है। वरना मैं तो आवाज़ से हिन्दू-मुसलमान बता देती हूँ।"
अम्मा ने फ़ातिमा के गाल पर हाथ फेर के कहा था,-"मेरी बहू किसी कोने से मुसलमान है ही नहीं।"
फ़ातिमा ने पूछ लिया,-"मैं भी तो सुनूँ आवाज़ में क्या रहस्य है ?"
चाची ने हाथ नचाया, "भई मुसलमानिन हमेशा भोंडी आवाज़ ही पाती है। आदमियों-जैसी ! भारी !...वह मालिन नहीं आती है ?"
फ़ातिमा ने तपाक से कह दिया, "आवाज़ तो आवाज़ ठहरी, हिन्दुओं के तो आदमी ही औरतों-जैसे हैं, पिद्दे...से !"

बाद में ओम और फ़ातिमा अपनी मित्रमंडली में इस किस्से पर ठहाके मारके हँसे थे। ओम के पाँच फुट सात इंच के पुरुषत्व की लम्बी खिंचाई की गई थी। फ़ातिमा ने खुद को फ़तेह खाँ फ़नकार कहकर कोई जोशीला गाना सुना दिया था।

आए दिन ऐसे किस्से होते थे जिनको लेकर मित्रों में छेड़छाड़ चलती। सब मिलकर संसार की रीतियों पर ताज्जुब करते। ओम के बाबा कहा करते थे कि राह चलते कभी साँप और मुसलमान मिल जाए तो पहले मुसलमान का खात्मा करो, फिर साँप का ! ओम तब बनिए और पठान का चुटकुला सुनाता कि बनिया पठान के सीने पर सवार घूसे पे घूसे जमाए जा रहा है और फफक-फफककर रो रहा है कि रुके तो कैसे, क्योंकि वह रुका नहीं कि पठान उठकर उसे वह पटकेगा...वह पटकेगा...!

कभी ओम फ़ातिमा को चिढ़ाता, "इधर आ मुसलटी, देखें तो तेरे बदन से कैसी बू आ रही है, पानी से बैर करनेवाली ?"
फ़ातिमा इतरा के अलग हो जाती, "जा-जा काफ़िर, दो बूंद छिड़क ले और स्वच्छता का राग अलाप। बड़ा आया, ढोंगी धर्मात्मा कहीं का !"
तब और दोस्त मिल जाते, "ना-ना भाभी, नहाने की बात तो छोड़। वह तो गनीमत है इतनी गर्मी है कि तुम्हें भी नहाना पड़ता है। पर उसका क्या जो हर मांस खानेवाले जानवर की बू होती है ?"
यह क्या बकवास है ?"
सब हँसते, "क्यों हमारी गाय महकती है ? कभी नहीं। और शेर ? और मुसलटा ?"
"और घोड़ा ?" फ़ातिमा ताली पीटकर हँसती।
सब मज़े में झूम उठते। कभी लोगों के दिमाग पर हँसकर, कभी चौंककर । क्या-क्या नहीं प्रचलित कर देते हैं, कुछ भी मान लेते हैं।
पर शन्नो चाची तो शहद से लीपकर व्यंग्य कसती थीं। उन्हें तो 'फ़िट' करना ही था। लेकिन अम्मा कभी ऐसा-वैसा नहीं बोलती थीं। उन्होंने तो बस एक बार बहू बना लिया तो फिर स्नेह ही बरसाया।

फिर अचानक उनका देहान्त हो गया। ओम एकदम टूट गया। अम्मा को याद करके नन्हे-से बच्चे की तरह रो पड़ता। फ़ातिमा भी रोने लगती। अम्मा याद आतीं। फिर अम्मी और अब्बा का ख़याल भी आ जाता। न जाने किस हाल में होंगे। इधर-उधर से कोई उड़ती खबर आ जाती थी। ख़ालूजान के पास गए हैं...नदीम की शादी कर दी...मोतिया का ऑपरेशन हुआ है..., वगैरह। एकदम कट चुकी थी उनसे फ़ातिमा। कभी...कुछ हो गया तो...?

ओम ने अम्मा की तस्वीर फ्रेम करा के टाँग ली। शन्नो चाची ने उसी के बगल के आले पर उनके सबसे प्रिय भगवान-शंकर-का फोटो खड़ा कर दिया। कभी-कभार आती तो हाथ जोड़ लेतीं। देखते ही देखते वह कोना एक पूजा-स्थल बन गया। पार्वती और गणेश भी आ गए। सामने पीतल की एक तश्तरी में शिवलिंग, गंगाजल, अगरबत्ती और दीया सज गए।

अम्मा की याद से कुछ ऐसी जुड़ गई थी यह पूजा कि ओम ने कभी उँगली नहीं उठाई। फ़ातिमा और वह आरती भी ले लेते और शन्नो चाची के कहने पर आले की तरफ़ जूता-चप्पल पहनकर न जाते।

बहुत दिनों तक चाची नहीं आती हैं तो ओम अधीर लगने लगता है, फ़ातिमा को ऐसा वहम था। एक ऐसे ही दिन उसने पूछा, "मैं फूल बदल दूँ ?"

ओम क्षण-भर चुप रहकर बोला था, “ठीक है, अम्मा को अच्छा लगता था।"

फ़ातिमा ने नहाकर चाची की तरह सिर पर पल्लू डाल लिया। केले के पत्ते पर गुड़हल, गुलाब और मोगरा धो लाई और शिवजी के लिए बेल-पत्र । दूध से शिवलिंग को नहलाया, फूल-पत्र चढ़ाए, दीया जलाया। उसके मन से हूक-सी उठी-'अम्मा...अम्मी...अब्बा...!'

अगली बार चाची आईं तो पूछने लगीं, “यह पूजा किसने की ?"
“मैंने।" फ़ातिमा ने बताया।
चाची कुछ बोली नहीं, पर हर सोमवार को आने लगीं।
“क्यों बहू, ओम ऑफिस गया ?"
"हाँ चाची।"
"और तूने वह धागा तो नहीं उतारा ? हाँ उतारना नहीं, तेरी गोद भरेगी।"
“धागे से नहीं चाची, हमारी मर्जी से भरेगी।"
"अरे तो मर्जी तो है ही।" चाची ने पूजा के आले पर से घी उतारा और चढ़ावे के लिए थोड़ा-सा हलुवा बनाया। पूजा की।

किसी जन्माष्टमी में नीचे के आले को साफ करके कृष्ण-झाँकी भी बना गई थीं। तभी फ़ातिमा ने, जैसे अम्मा बनाती थीं, वैसे सिंघाड़े का हलुवा बनाया था। शाम को ओम की तरफ़ बढ़ाया तो उसने पूछा, “क्या शन्नो चाची बना गईं ? तुमने ?...इतना आसान थोड़े है। एक दिन में नहीं आ जाता।"

शन्नो चाची पूजा करके चली गईं। फ़ातिमा भी बैंक के लिए चल पड़ी। फुटपाथ पर लोगों की भरमार थी। फ़ातिमा को लगा, वह सबके रास्ते में आ रही है और सब उस पर मन ही मन भन्ना रहे हैं। अपराध-बोध से वह कभी बाईं ओर झुकती, कभी दाहिने को हटती, और एकाएक रुक जाती...भीड़ को गुजर जाने दो...।

वह भीड़ से बेहद घबराने लगी थी। लोगों से घबराने लगी थी। कभी कोई जाननेवाला दिख जाता तो अव्वल तो वह उसे पहचानती ही नहीं और अगर पहचान लेती तो दुविधा-भरी एक मुस्कान के साथ कतरा के बगल से निकल जाती कि न जाने सामनेवाला उसे पहचान भी रहा है...पहचानना भी चाहता है...?

ओम झल्ला उठता, “कहीं जाते हैं तो बोलने की कोशिश भी नहीं करती हो। लोग समझेंगे खिलजी खानदान का होने का गरूर है, बादशाहत का गुमान पाले हुए हो।"

"तो मत ले जाओ मुझे कहीं।" फ़ातिमा बात निपटा देती।

ओम अक्सर अकेले ही जाता। फ़ातिमा से कह-कहके हार गया कि लोग हर बात का टेढ़ा मतलब ही निकालेंगे और निकालेंगे ज़रूर। उसी दिन की, मनचन्दा बता रहा था, बाला ने कह दिया था-"देखो, नहीं आईं न शहज़ादी। समझ रही होंगी कि बेटे का जन्मदिन तो बहाना है, दुर्गा-पूजा का जमघट होगा असल में। अजी मानो न मानो, मुसलमान होता ही है ज़्यादा मुसलमान । हम तो सिद्दीकी के घर हर ईद पर जाते हैं। जबकि हमें मालूम है वह छुप के गाय काटते हैं ।"

लोग कैसा कैसा बोलकर महफ़िल में रंग लाते हैं, इसका ओम और फ़ातिमा को पुराना तजुरबा था। वह तो शादी की खबर उड़ी-भर थी कि जग-भर अपने-अपने परमेश्वर का दूत बन बैठा और ओम और फ़ातिमा का रक्षक भी।

“अरे भाई चुप कैसे बैठें, एक शरीफ लड़का बरबाद हुआ जा रहा है...वह चंडाल निकाह किए बगैर नहीं माननेवाली...।"
“अमाँ फला-फलाँ की यह जुर्रत ? हमारी लड़की उठाएँगे ? देख लेंगे...।"

और तो और, अम्मा बेचारी की मौत पर भी अफवाहों का बाजार गर्म था"देखा ना, निकाह किया, बेटे का धर्म लिया, माँ रो-रो के जान दे बैठी...।"

मनचन्दा बता रहा था कि इकहत्तर में तो यह शोहरत थी कि फ़ातिमा के बाप पाकिस्तान के एजेंट हैं। शादी का विरोध तो नाटक है, लड़की को दुश्मनों की मदद की खातिर काफ़िर से ब्याहा है, ओम की कम्पनी, शायद डनलप के तकियों और गढ़दों में एफ.बी.आई. की फ़ाइलें सिलती थी !

फ़ातिमा चैक भुनाकर लौट आई।

शाम को ओम जल्दी घर आ गया। "चलो डमरूपार्क चलें।"

वहाँ पहुँचकर दोनों एक घने पेड़ के नीचे, उसके चौड़े तने से टेक लगाए बैठ गए। फ़ातिमा जमीन पर पड़ी एक टहनी से खेलने लगी। अचानक किसी सड़की कुत्ते की, उसी टहनी पर, उसी तने से लग के, एक टाँग उठाके क्रिया करने की तस्वीर बेवजह उसके मन में कौंध गई। उसने चीखकर टहनी गिरा दी।

“क्या हुआ...क्या हुआ ?" ओम भी हड़बड़ा गया।

"व...वो..." फ़ातिमा ने बड़ी-बड़ी आँखें उधर कीं। और फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। सरिता-सी कल-कल करती उन्मुक्त हँसी।

"फ़ातिमा !" ओम ने उसे गले लगा लिया।

हँसते-हँसते फ़ातिमा रो पड़ी।

“ओम, मुझे अच्छा नहीं लगता। बिलकुल अच्छा नहीं लगता।"

"क्या बात है, फ़ातिमा ! मेरी जान, अब तो खुश हो जाओ। सब तो अच्छा हो रहा है। तुम अम्मी के भी पास जाने लगी हो।"

अब्बा का तार आया था। उन्हें अस्पताल में भर्ती कर दिया गया था। सख्त बीमार थे। फ़ातिमा बदहवास हाल में मैके पहुंची थी। शादी के बाद पहली बार। बहुत रोना-धोना हुआ। अब्बा जान अच्छे हो गए। पर मुहर्रम शुरू हो गया था। फ़ातिमा ने ओम को लिखा- “अब्बा घर लौट आए हैं। अब कोई खतरा नहीं है। पर मुहर्रम शुरू हो गया है। उसके बाद ही आ पाऊँगी। अभी छोड़कर जाना ठीक नहीं लगता।"

मिलते ही दोनों में झगड़ा हो गया। ओम बरस पड़ा, “यह हमारा समझौता था कि धर्म से कोई साबिका नहीं होगा, उसके पचड़ों में बिलकुल नहीं पड़ेंगे।"

फ़ातिमा ने आश्चर्य से कहा था, "तुम तो गज़ब ही करते हो ओम। मुझे धर्म से अभी भी कुछ वास्ता नहीं है। अब्बा बीमार थे। अम्मी का जी हल्का हो पाया। मेरे नौहे पढ़ लेने से उन्हें राहत मिली। बस। मैंने कोई समझौता नहीं तोड़ा।"

"वाह-वाह," ओम ने लाल-पीले होकर ताना कसा, "तुम रोज़ा रखो, मातम करो, और फिर मासूमियत से कहो, क्या गलत किया ? फिर क्यों न अम्मी के दिल के सुकून के लिए निकाह भी कर लिया होता ? वही क्या ग़लत होता ?"

फ़ातिमा ने बहुत गहराइयों से ओम की तरफ़ देखा। दो क्षण बाद शान्त स्वर में बोली, “हाँ शायद गलत नहीं होता। हमें फ़र्क न पड़ता पर अम्मी और अब्बा को इज्जत मिल जाती, हमसे रिश्ता कायम रखने का ज़रिया मिल जाता। मुझे इस तरह अलग होने को मजबूर नहीं होना पड़ता।...भाई की शादी तक में शरीक नहीं हो पाई।...तुम्हारे...हिन्दुत्व की वजह से।"

ओम सन्नाटे में आ गया, “अरे ! दो दिन उस माहौल में लौटी और दिमाग फिर गया ? मैंने क्या निकाह से मना किया था ? या किसी भी किस्म की धार्मिक रस्म से ? बोलो। मन्दिर, मस्जिद, गिरजा..." ।

“खूब रही," फ़ातिमा बीच ही में बोल उठी, “अब मन्दिर और फेरों की बात होगी। मन्दिर पर कौन-सा कलंक लग रहा था ? तुम जानते हो, अच्छी तरह से, जानते हो कि हमारे इस समाज में जो भी जाता है, लड़की का जाता है। लड़का सिर्फ़ लेता है।...तुम्हारे हिन्दू मज़हब की तरह...दूर-दूर तक अपना साया बिछाता है, अपनी छत्रछाया में दूसरों को पालता है...या डसता है... ।...पर यह तो खूब रही कि अपने फैलाव से बेख़बर हैं और कोई दूसरा

ज़रा-सी पनाह माँगे, होने का हक माँगे, थोड़ी जमीन चाहे तो भड़क उठें कि ऐसा है तो फिर हमें भी हिस्सा चाहिए ! उल्लू न बनाओ। तुम्हारा क्या बदला या बिगड़ा ?"

ओम का हाथ उठ गया था, "अब ऐसी दलीलें दी जाएँगी? और यह जताओगी कि जैसे मैं तुम्हें उठा के ले आया ? अपनी रज़ामन्दी का जिम्मा लेते अब डर लगने लगा है।"
फातिमा रोने लगी। पर बोलती रही, "रज़ामन्दी ? क्या तुमने कोई रास्ता छोड़ा था ? या तो इस तरह आओ, वरना जाओ, फूटो, मरो। छोड़ना क्या आसान होता है ?"
“फातिमा", ओम चिल्ला पड़ा था, "इस तरह हमारे अतीत को मत झुठलाओ, हमारे प्यार को दुषित मत करो।"
डमरूपार्क में दोनों अपने अतीत को असली और नकली गाँठों से उलझाए बैठे रहे।
ओम ने फातिमा को गोद में लिटा लिया, “अब क्या है ? अब तो तुम हर साल नौहे पढ़ने अपने घर जाती हो।"
फातिमा भर्राई आवाज़ में बोली, "जाती ही तो हूँ बस । क्या नाता रख पाई हूँ किसी से ? क्या दे पाती हैं उन्हें ?...ओम, मैंने समाज से लड़ाई की थी, वह मुझे बदनाम करे, मेरा बहिष्कार करे, मैं सब सह सकती थी। पर माँ-बाप से अलग होना..."
ओम विचारमग्न हो गया। माँ-बाप से अलग कौन-सा समाज होता है ? है कोई समाज ?
उसने दृढ़ स्वर में कहा, "नहीं, फातिमा, हम शिकायत नहीं कर सकते। जगदीश काका को याद करो।"

जगदीश काका फातिमा को अंग्रेजी पढ़ाते थे। वह अकेले बुजर्ग थे जो उन दोनों की शादी में शरीक हए थे। शादी से पहले उन्हें नसीहत भी दे चुके थे- “देखो, इस समाज की ताकत को मामूली न समझो। उसके बारे में अपनी नीयत तय कर लो। खूब थू-थू होगी, यह समझ लो। उससे घबराते हो तो सोच लो। दुनिया के आगे चाहे मुस्काता मुखौटा चढ़ा लोगे, अन्दर चूर-चूर होते जाओगे। झेल सकते हो, हिम्मत है, तो आगे बढ़ो, हम सब तुम्हारे साथ हैं । यह नकली भेदभाव तुम बच्चों के मिटाए ही मिटेंगे। पर फिर ठीक से समझ लो, जाने दो जो जाता है...नाम, खानदान...किसी का गम न करो।'

“फातिमा,” ओम ने उसका सिर अपने दोनों हाथों में ले लिया, "समाज को हरा दिया और अब लड़खड़ा रही हो !"
"तम्हें क्या," फातिमा ने उसके हाथ हटाकर कहा, "तुम्हारी माँ, तुम्हारे रिश्तेदार, सब तुम्हारे ही रहे। तुम अपने ही रहे।"
ओम ने ज़रा झुंझलाकर कहा, "तुम्हारी अम्मी चाहकर भी तुम्हें न मान पाईं तो यह उनकी कमज़ोरी है, मेरी माँ को क्यों कोस रही हो ?"
फातिमा को बुरा लगने लगा । वह उठकर बैठ गई, “तुम नहीं समझ सकते। लड़के हो...हिन्दू हो।...तुम्हें क्या डर ?"
"ओफ्फो!" ओम ने सिर पकड़ लिया, “ अब इस तरह बातें होंगी । जबसमाज के घटिया कानूनों से ऊपर उठ गए तो उनकी तुला पर हमें क्योंकर तौलोगी? लड़का, लड़की, हिन्दू-मुसलमान !"

"कहना आसान है," फातिमा का गुस्सा बढ़ने लगा, “तुम ऊपर उठ गए और अलग हो गए । तुम्हें शुरू से यह छुट थी। पर मुझे तो हर कदम पर समाज के बाण सहने पड़ते हैं। जमादारिन है तो मुझसे पूछती है, तुम्हारे आगे तो मुँह नहीं खोलती। तुम्हारे उस जिगरी दोस्त की पढ़ी-लिखी बीवी तक, तुमसे वहीं पुराने अदब से बोलती है पर मुझसे 'हैलो' भी नहीं करती। कोई उससे पूछे तो सहीं कि यह सब नापसन्द है तो मुझ पर ही ज़ाहिर करने की तमीज़ क्यों ? जैसे मैंने ही तो यह सब किया है, तुम तो दूध के धुले, मासूम बेचारे हो।...धोबी तक जानपूछ कर मेरा काम देर से करता है... " फातिमा की सिसकियाँ बँधने लगीं।

"छोड़ो फातिमा," ओम ने टोका, "हमने लोगों से कब कोई दूसरी उम्मीद की थी ? उनकी निर्दयता, उनकी संकीर्णता, लगातार तो देखते रहे हैं। छोड़ो उनकी। क्यों इन छोटी-छोटी लड़ाइयों में सिर खपाती हो?"

“यही तो मैं समझ चुकी हूँ," फातिमा चीख उठी, आपे में नहीं रही, "कि यह छोटी-छोटी लड़ाइयाँ ही असली हैं । बड़ी लड़ाई लड़ना आसान है । उन्हें गर्व से लड़ते हैं हम, अभिमान से मर-मिटते हैं उनके लिए। पर यह छोटी लड़ाइयाँ... कीड़े की तरह घिनौनी-दीमक की तरह लग जाती हैं, खोखला करती जाती हैं... इतनी छोटी होती हैं कि बड़ी-बड़ी स्वाभिमानी रोबदार लड़ाइयों से जोड़ कर देखना मुश्किल हो जाता है।...तुम्हारी लड़ाई बड़ी है। लड़ो

और चाटो बड़ी लड़ाई की बड़ी जीत को। उसकी तो हार में भी घमंड है । पर मैं...मुझे...इन छोटी-छोटी लड़ाइयों ने बड़ी के लिए सत नहीं छोड़ी है...मैं..."

"यह हमारी हार है फातिमा ! कोई वजह नहीं कि हम हारे तुम...त्...त... तुम..."ओम घोर निराशा में हकलाने लगा।
“मैं अब कुछ नहीं जानती । बन्द करो।" फातिमा त्रस्त हो चुकी थी।
ओम का हृदय कराह उठा । फातिमा डूब जाओगी। हम दोनों मिट जाएँगे। अपनी कमज़ोरी से बेइंसाफी को बढ़ावा दे रहे हैं। अन्यायियों को मसाला मिलेगा, वे चटखारे ले-लेकर दुनिया को यह मिसाल सबूत के तौर पर पेश करेंगे।
किसी तरह सँभलना...सँभालना...होगा । जगदीश काका... । क्या करें ? कहाँ जाएँ?
शहर छोड़ दें ? कुछ रोज़ के लिए सुस्ताने निकल जाएँ ? ऊटी ? दूसरा हनीमून ?

ऊटी ही तो जा रहे थे जब वह मोटी मिली थी जो मुल्ला को देखकर भयभीत हो गई थी। लेडीज़ केबिन को रेलवेवालों ने जनरल डब्बा बना दिया था। उसी में ओम और फातिमा को जगह मिली थी। ओम अभी प्लेटफार्म पर खड़ा था और फातिमा सामान के साथ अन्दर बैठी थी। सामने गहनों के भार से हाँफती एक मोटी बैठी थी जो 'लेडीज़, लेडीज़' चीख पड़ी थी, जैसे ही एक मुल्ला अपनी पलटन लेकर डब्बे में घुसे । फातिमा ने मामला स्पष्ट किया तो उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। मल्ला-टोली सामान रखकर बाहर निकल गई तो मोटी फुसफुसाने लगी थी, 'बेटी, यह तो खतरनाक बात है।'

फातिमा ने सांत्वना दी कि नहीं बहत लोग साथ हैं, घबराने की क्या बात है ? पर मोटी के तो होश फाख्ता हो रहें थे। नहीं बेटी, यह 'एम' लोग हैं।' उसने नज़रें चारों तरफ दौड़ाकर हाँफते हए बताया था और फिर जो उनकी बदमाशियों का ब्यौरा दिया था उसमें कोई करतूत नहीं छोड़ी थी जो इन लोगों का तरीका न हो । फातिमा ने बहस की थी, 'मुझे भी अन्दाज़ है, मैं खुद 'एम' हूँ।' मोटी को रात-भर नींद नहीं आई होगी। सवेरे-सवेरे फातिमा गठरी की तरह सिमटकरठंड में ठिठी जा रही थी कि ऊपर की 'बर्थ' से मुल्ला का चैदह-पंद्रह बरस का लड़का उतरकर बोला था, 'दीदी, चादर ले लो, मेरे पास दो हैं।' मोटी भयभीत नज़रों से देख रही थी।

"चलो घर चलें।" ओम ने फातिमा का हाथ पकड़ लिया। फाटक पर उसने फातिमा को रोक लिया। आस-पास कोई नहीं था। ओम ने फातिमा की आँखों में झाँका । वहाँ अँधेरा ही अँधेरा था।

“फातिमा, चलो कहीं चलें । मैं छुट्टी ले लूँगा। ऊटी चलेंगे। फातिमा मैं तुम्हें खुश देखना चाहता हूँ। फिर से । हरा-भरा... ।"
ओम की भतीजी की शादी में फातिमा ने हरी साड़ी पहन ली थी। अनायास ही ओम के मुँह से निकल पड़ा था-'यह क्या मुसलमानी रंग उठा लाईं ?'
फातिमा के होंठ काँपने लगे थे-'चुप हो जाओ ओम, बस इसी वक्त चुप हो जाओ।'
ओम उसे बताना चाहता था कि उसका ऐसा-वैसा कोई मतलब नहीं था। यह सब अनजाने में, न जाने कहाँ की सुनी-सुनाई बातें, कहाँ की बसी–बसाई प्रतिक्रियाएँ हैं जो यों ही, सहज भाव से अनायास निकल आती हैं। ओम फातिमा के पीड़ित मन को फिर से 'मुसलमानी हरा' कर देना चाहता था।
"हँसो ना मेरी जान ।”

फातिमा की आँखों में गाँठे भरी पड़ी थीं। कैसे सुलझेंगी, इतनी उलझ चुकी थीं। ओम को लगा कि अब चाहे सुलझाने के लिए खींचो, या छोड़ दो या कसती जाने दो, नतीजा एक ही होगा-टूट जाएंगी।
नमाज़ का वक्त हो गया था। फातिमा अन्दर चली गईं।
ओम अब चुप नहीं रह पाया। उसने लपककर उसे पकड़ा, "तो यही कहो न कि अब इसी पर्दे में जाओगी और मैं दखल न दूं।"
फातिमा की तो नाक पर जैसे गुस्सा रखा रहता था, "और तुम जो दीया जलवाते हो?"
"मैं...मैं जलवाता हँ ? झूठ-सच किसी से मतलब नहीं तुम्हें ? अब आनेवालों से कह दूँ कि घर में घुसकर अपने भगवान का नाम न लो ?"
"नहीं, मत कहो। किसी से न कहो। मुझसे भी नहीं।"

ओम स्तब्ध उसे देखता रह गया।

जा-नमाज़ का कोना मोड़कर फातिमा फिर बाहर निकल गई। सरपट-सरपट भागती-सी चाल में जा रही थी, लेकिन ऐसे नहीं जैसे किसी काम की जल्दी हो और गाड़ी छूट रही हो, बल्कि ऐसे जैसे किसी से भाग रही हो । भयभीत-सी। बौखलाई-सी। चेहरे के हर कण को अन्दर छिपी किसी बेचैनी में कसके मानो बाँध लिया हो कि कोई उड़ता भाव न आ जाए, किसी को मालूम न हो जाए, और ज़्यादा कसे फीते की वस्तु की तरह उसका चेहरा तनते-तनते सिकुड़ गया...